ओ३म्

परमात्मने नमः

ज्ञानदीपिका

जिसमें

हिन्दूधर्मरूपी एक पिताके सनातनी, आर्य,
बौद्ध, जैन और सिक्खरूपी पांच
पुत्रोंके धर्मग्रंथोंके वाक्य
संगृहीत किये गये हैं।

संग्रहकर्ता व प्रकाशक—
श्रीराम शर्मा
कलकत्ता

प्रथम बार   मूल्य ।) आना

हिन्दूधर्मकी पाँच प्रधानशाखाएं

जब हम विचारपूर्वक देखते हैं तो ठीक जान पड़ता है कि आर्यसमाजी, सनातनी, बौद्ध, जन और सिक्खधर्मानुयायीगण एक ही हिन्दू-धर्मरूपी पिताके पाँच भाई हैं।

एकही संस्कृत भाषाका सम्बन्ध इन पाँचों भाइयोंके धर्मग्रंथोंके साथ है।

आर्यसमाजी और सनातनियोंके तो सभी धर्मग्रंथ संस्कृत भाषामें लिखित हैं और बौद्ध तथा जैनोंके धर्मग्रंथ संस्कृत पाली तथा अर्द्धमागधी तीनों भाषाओंमें मिलते हैं।

सच तो यह है कि पाली और अर्द्धमागधी एक प्रकारसे अपभ्रंश संस्कृत भाषाका ही रूप है।

सिक्खोंका धर्मग्रंथ गुरुमुखी लिपिमें पंजाबी भाषामें है जिसमें अधिकांश शब्द संस्कृतसे ही बने हैं। भाषा चाहे कोई हो परन्तु गुरुनानकके भाव तो ठीक उपनिषदोंसे ही मिलते हैं।

जब हम बौद्ध, जैन तथा सिक्ख धर्मों की शिक्षाका मनन करते हैं तो स्पष्टतया जान पड़ता है कि इन धर्मों के प्रवर्तकोंने वैदिक कर्मकांडको एक प्रकारका बाह्य आडम्बर समझकर छोड़ दिया और उपनिषदोंकी जो आध्यात्मिक शिक्षा थी उसको धारण कर लिया और पिछले युगमें जो जातियोंकी अधिक

संख्या बढ़ती जा रही थी और छुआछूतका वृथा आडम्बर तथा उच्चजातिमें उत्पन्न होनेका वृथा :अहंकार बढ़ रहा था उसको इन लोगोंने, सुधारक प्रकृतिके हिन्दू होनेके कारण, अच्छा नहीं समझा। शेषांशमें तो सभी आध्यात्मिक बातोंको वैसाही रखा।

हां, यह दूसरी बात है कि दार्शनिक सचाइयोंके सम्बन्धमें कई अंशमें इनका अब भी भेद है। सो यह विचार-स्वातंत्र्य तो हमारी हिन्दूजातिमें सदासे ही चला आता है। कोई अद्वैत-वाद मानता है तो दूसरा द्वैतवाद मानता है, एक मूर्तिपूजक है तो दूसरा ईश्वरके निराकार रूपमें ही प्रेम रखता है और मूर्तिका पूजन अज्ञानका चिह्न समझता है। जैसा कि हमारे भागवत ग्रंथमें ही बताया है कि मूर्ति-पूजा अज्ञानियोंके लिये है। इसलिये हमको चाहिये कि विचार-स्वातन्त्र्य रखते हुए सब ही पांचों भाई परस्पर प्रेमसे रहें। इस समय यह भी परमावश्यक है कि छूतछातके वृथा आडम्बरको दूर करके हमारे सात कोटि अछूत हिन्दू भाइयोंको पठित और शिक्षित बनाएं और साथ ही उनको यह समझा दें कि जब तुम अपना मलिन कार्य कर चुको तो श्वेत और स्वच्छ वस्त्र पहिनकर सर्वसाधारणके लिये बने हुए मन्दिर पाठशाला, धर्मशाला तथा कुओंपर स्वतंत्रतापूर्वक आओ जाओ। ये सर्व साधारणके लिये बनी हुई संस्थाएं हैं। इनपर हिन्दूमात्रका समान अधिकार है। यदि तुमलोग इन संस्थाओंमें स्वच्छता धारण करके अपनी मानसिक निर्बलतासे नहीं जाते

हो तो इसमें तुम्हारा ही अपराध है।

संसारमें तो वही व्यक्ति आगे बढ़ सकता है जो बढ़ना चाहे। दूसरोंके मुँहकी ओर ताकनेवाला धक्का ही खाता है। हमने इन उपर्युक्त पांचों शाखाओंके धर्मग्रथोंसे कुछ वाक्य उद्धृत करके इस "ज्ञानदीपिका"में एकत्र किये हैं, इसलिये कि इनको जानकर सर्वसाधारण लाभ उठाएं।

हिन्दू संगठनके सम्बन्धमें श्रीमान् पण्डित लक्ष्मणनारायणजी गर्दे सम्पादक दैनिक भारतमित्रकी सम्मति जो उन्होंने कार्तिक शु० ४ सं० १९७९ वि० के दैनिक भारतमित्रमें दी है, वह यहां भी दी जाती है :—

"हम भी यह मानते हैं कि हिन्दूमात्रके सर्वसम्मत सिद्धान्तोंका निर्णय हो जाना चाहिये। परन्तु यह काम बहुत ही कठिन है, इसमें दीर्घकाल और प्रचण्ड बुद्धिसंयोगकी आवश्यकता है; इस आवश्यकताकी पूर्ति होगी यह दृढ़ आशा भी हमको है। पर इसके लिये हम यह आवश्यक नहीं समझते कि जबतक यह काम न हो ले तबतक हिन्दूजातिका सङ्गठन ही न हो। सम्पूर्ण सङ्गठन स्थायी सङ्गठन तो तभी होगा जब तीनों बातें हो जायं। पर जितना सङ्गठन अभी हो सकता हो—आसानीसे हो सकता हो उतना कर लेना चाहिये। हिन्दूमन्दिरसे ऐसा सङ्गठन हो सकता है। क्योंकि यह हिन्दूमन्दिर प्रत्येक हिन्दू सन्तानको समानरूपसे अपील करेगा—हिन्दूजातिकी एकताकी प्रतिमा सामने खड़ी कर देगा और इससे हिन्दू एक दूसरेके पास खिंच आवेंगे। सर्वसम्मत

सिद्धान्तोंके निर्णय करनेमें बहुत बड़ी मदद मिलेगी, क्योंकि हिन्दू मन्दिरमें हम इसलिये एकत्र नहीं होंगे कि सांप्रदायिक सिद्धान्तों पर शास्त्रार्थ करें, बल्कि इसलिये एकत्र होंगे कि सारी हिन्दू जाति एक सूत्रमें बंध जाय। आज यदि हम कोई ऐसा ग्रंथ भी बनाडालें जिसमें सर्वसम्मत सिद्धान्तोंका संग्रह हो, तो वह ग्रंथ सर्वमान्य होगा और उसपर किसी सम्प्रदायकी ओरसे कोई एतराज न होगा, इसकी कोई गेरण्टी नहीं है। ऐसे निर्णयके लिये सब सम्प्रदायोंके विद्वानोंको एक स्थानमें एकत्र करना होगा और यह काम उनके जिम्मे करना होगा। यह काम एक तरफ होता रहे; दूसरी तरफ हिन्दूजातिकी एकताकी प्रतिमा खड़ी कर दी जाय। यह काम उतना कठिन नहीं है। इसकी आवश्यकता समझकर धन संग्रह करके मन्दिर निर्माण कर देना है। यह स्थान हिन्दूमात्रके जातीयत्वको जागरित करने-वाला वह साधन होगा जहाँ प्रत्येक हिन्दू चाहे वह ब्राह्मण हो या चांडाल ईश्वरके झंडेके नीचे स्वच्छतासे आ जा सके। यहां हर हिन्दू, हिन्दूकी हैसियतसे आवेगा चाहे वह जैन हो, बौद्ध हो या सिक्ख; आरम्भमें बहुत लोग इसका विरोध करेंगे, इससे अलग रहेंगे, पर यह स्थान हिन्दूमात्रको जो मूल शिक्षा देगा वह शिक्षा धीरे धीरे समस्त हिन्दूजातिको यहां एकत्र कर देगी और इसका यह परिणाम होगा कि जो हिन्दू आज इस बातको रो रहे हैं कि हममें एका नहीं है वे एक दिखायी देंगे।

सनातनी, आर्यसमाजी, जैन, बौद्ध, सिक्ख ये हिन्दू हैं क्योंकि

वे अपनेको हिन्दू कहते और मानते हैं। इन हिन्दू और गैरहिन्दू दलोंके बीच बड़ा भारी अन्तर संस्कृतिका है। फिर पुनर्जन्मवाद आदि कुछ तात्विक भेद हैं। गोरक्षा आदि आचार भेद हैं। इन संस्कारों, विश्वासों और आचारोंकी परीक्षा करके दोनों बातोंसे समन्वित कोई लक्षण बन सकता है अथवा यों कहिये कि लक्षण तो मौजूद ही है, केवल उसे न्यायकी कसौटीपर कसकर शास्त्रीय भाषामें प्रकट करना है।

तीसरी कठिनाईकी बात तो यह है कि अस्पृश्योंकी उपेक्षासे हिन्दू जातिकी कैसी भयंकर हानि हो रही है यह जो लोग समझते भी हैं वे इसका कुछ उपाय नहीं कर सकते; क्योंकि इसमें बड़ी भारी कठिनाई परस्पर सम्बन्धका अभाव है। यह कठिनाई हिन्दूमन्दिरसे दूर हो जायगी। क्योंकि जैसे भागीरथी ब्राह्मणसे लेकर चांडालतक सबके पापोंको धो डालती है उसी तरह हिन्दूमन्दिर ब्राह्मण और चमार दोनोंको हिन्दुत्वका स्मरण दिलाकर उनके दोषोंको दूर करेगा। ब्राह्मण यह समझकर कि-

देवयात्रा विवाहेषु यज्ञ प्रकरणेषु च।
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्ट्यस्पृष्टिर्न विद्यते॥

हिन्दूजातिको बलशाली बनानेके लिये हिन्दूमन्दिरमें यह समझकर प्रवेश करेगा कि हिन्दूजातिका जहां विराट रूप है वहां वह विराट रूप ही आराधनाके योग्य है और वहां अन्त्यज भी यह जानकर प्रवेश करेगा कि यह हमारी जातिका मन्दिर है—हम

हिन्दू है यह हिन्दूमन्दिर है—यहां सब भाई भाई हैं। जो लोग चाहते हैं कि हिन्दूजातिका सङ्गठन हो वे सब यहां आजायंगे और कालान्तरमें यह मन्दिर समस्त हिन्दूजातिके लिये वैसा ही पवित्र तीर्थस्थान होगा जैसा हरद्वार और जगन्नाथ सनातनधर्मी हिन्दूमात्रके लिये है। इस मन्दिरमें ऐसे लोग जायंगे ही क्यों जो यह समझते हैं कि हिन्दुओंके हिन्दुत्वकी रक्षाके लिये निरभि-मान होकर एक स्थानमें एकत्र भी न होना चाहिये? हिन्दूमन्दिर बनेगा, उसमें हर हिन्दू जा सकेगा। जिसे यह व्यवस्था पसन्द न होगी वह इसमें विघ्न भी क्यों उपस्थित कर सकता है, यह हम नहीं जानते। पर हमारा विश्वास तो यह है कि इस तरहसे हिन्दूजातिका जो सङ्गठन होगा वह खानपान सम्बन्धी विचारको नष्ट करनेके अदूरदर्शी उद्योगसे कदापि न होगा। उत्सवोंमें यज्ञ प्रकरणमें, देवागारमें समस्त हिन्दू एकत्र हो सकते हैं यह विधान कार्यरूपमें परिणत करने और उससे जातीय प्रेम बढ़ानेका सबसे सरल साधन इस समय यदि कोई है तो वह "हिन्दू मन्दिर" ही है। इससे बहुतसी कठिनाइयां आपही दूर हो जाती हैं और कार्य भी सिद्ध होता है।"

ऊपर महाशय लक्ष्मनारायणजी गर्देने जो कुछ लिखा है वह बहुत ही ठीक है, परन्तु मेरा तो यह कथन है कि वर्तमानमें जो हिन्दुओंके मन्दिर बने हुए हैं उनमें भी अपने परमपिताके दर्शनके लिये ब्राह्मण, चमार तथा चांडाल सभी प्रेमपूर्वक आकर अपनी आत्माको पवित्र कर सकते हैं।

हम आशा करते हैं कि वर्तमान मंदिरोंके अधिकारी अपनी संकीर्णताको त्याग कर वर्तमान युगकी उदार परिपाटीको ग्रहण करनेमें संकोच नहीं करेंगे। क्योंकि ब्राह्मणादि इस बातको अच्छी तरहसे समझ लेंगे कि ईश्वरका दर्शन सबके लिये उतना ही आवश्यक है जितना उच्चवर्णोंके लिये है। उसमें जो बाधा खड़ी करनेवाले हैं वह हमारे मनसे उतने ही परिमाणमें ईश्वरीय दंडके योग्य हैं कि जितने परिमाणमें जो उनके विराट प्रेममें बाधा पहुंचाते हैं। अगर ईश्वरका प्रेम अन्त्यज जातियोंकेऊपर नहीं होता तो कबीर रइदास आदि भक्तोंका नाम भक्तोंकी गणनामें नहीं पाया जाता। भक्तमालके प्रणेता ईश्वरभक्तिके लिये ब्राह्मणों और अंत्यजोंमें कुछ भेद नहीं मानते थे। इसीलिये अपने सुप्रख्यात 'भक्तमाल' ग्रन्थमें ब्राह्मणादि उच्चवर्णोंके भक्तोंके साथ कबीर रइदास आदि अन्त्यज वर्णोंके भक्तोंका नाम उसी प्रेम और आदरके साथ लिखा है।

श्रीरामचन्द्रजीने खेवट भक्तको छातीसे लगानेमें कुछ भी आनाकानी नहीं की।

भगवानने गीतामें कहा है कि "समोहं सर्व भूतेषु" तो क्या कारण है कि अन्त्यज लोग जो हमारी तरह ही ईश्वरकी सन्तान हैं, अपने परम पिताके दर्शनके लिये मंदिरोंमें प्रवेश न कर सकें। यह हमारा अनुचित घमंड ईश्वर कहांतक सहन कर सकता है। इसका अनुमान घमंडी लोग तभी कर सकेंगे जब मरकर ईश्वरके दरबारमें उपस्थित होंगे। किसी पंजाबी कविने सच

कहा है:— सच्चे साहबदी सच्ची अदालत, ओथे कोई नहीं करदा वकालत।

श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरमें तो सब वर्णोंके लिये यहांतक खुला दरबार है कि खान पानतकमें भी बाधा नहीं। फिर नहीं मालूम कि अन्य मंदिरोंके स्वामी सब वर्णोंके लिये मंदिरोंमें जानेकी क्यों रुकावट डालते हैं? उनकी दृष्टिमें क्या श्रीजगन्नाथजीका मंदिर भ्रष्ट हो गया और यदि भ्रष्ट नहीं हुआ तो यह लोग इतर मंदिरोंमें क्यों अन्त्यजोंके प्रवेशमें बाधा दे रहे हैं। आशा है हमारे हिन्दू भाई अब अपने संकुचित विचारोंको अधिक काल तक धारण नहीं रखेंगे। बुद्धिमानोंके लिये इतना ही बहुत है।

कार्तिक कृष्णा १३ संवत् १९७९	हिन्दू धर्मकी उन्नतिका इच्छुक, **श्रीराम शर्म्मा**

श्रीहरिः शरणम् ।

ॐ परमात्मनेनमः ।

ज्ञानदीपिका

श्रीमद्भगवद्गीता—

संसारसागरं घोरं तर्तुमिच्छति यो जनः ।
गीता-नावं समारुह्य पारं याति सुखेन सः ॥

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः ।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः ॥

य एनं वेत्ति हंतारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हंति न हन्यते १६

मरने तथा मारनेवाला जो देहीको लेते मान ।
यह न मारता, माराजाता इन दोनोंका उन्हें न ज्ञान ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य-
न्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जैसे जीर्ण वस्त्रको तजकर नर नूतन पट लेता धार ।
वैसे जीर्ण देह तज देही अन्य देह करता स्वीकार ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

क्यों कि जन्म लेता सो मरता मरता जो होता उत्पन्न ।
फिर तू ऐसी अटल बातकी चिन्तासे क्यों है अवसन्न ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

सुखमें होती प्रीति न जिसको दुखमें हो न खेदका ध्यान ।
प्रीति क्रोध भय छोड़ चुका हो स्थितप्रज्ञ मुनि उसको जान ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

सकल इन्द्रियोंको वशमें कर विषयोंका करता बरताव ।
वह नर रहता है प्रसन्न जो छोड़े राग द्वेषका भाव ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

जब ऐसा है तब तूभी यों तज आसक्ति, किया कर काम ।
जो मनुष्य ऐसा करते हैं पाते परम मोक्षका धाम ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥ १० ॥

संग रहित हो ब्रह्मार्पण कर जो कर्मों को करता आप।
जल ज्यों कमल-पत्र पर, वैसे लगता नहीं उसे कुछ पाप ॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥१८॥

विद्या और विनय युत ब्राह्मण, धेनु और हाथी बलवान।
कुक्कुर तथा श्वपच इन सबको देखें पंडित-लोग समान ॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

पा प्रिय वस्तु न हर्षित हो जो अप्रियको पा सुखसे हीन।
स्थिर मति, ब्रह्म-विज्ञ, निर्मोही वही ब्रह्ममें होता लीन ॥

लभंते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

आत्म-संयमी, पापरहित हो करदें मनके भेद समाप्त।
सर्वभूत-हित रत होते जो वे सुब्रह्मको होते प्राप्त ॥

यतेंद्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

इन्द्रिय, मन, मति, रोक, क्रोध, भय तज, इच्छामें हो न प्रयुक्त।
मोक्ष-परायण ऐसे मुनिको जान सदा ही भवसे मुक्त ॥

बंधुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

जिसने जीता स्वयं आपको है वह अपना बन्धु महान ।
जाने निजको न, वह स्वयंसे करे शत्रुता शत्रुसमान ॥

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ३३

साम्य-बुद्धिसे प्राप्य योग यह जो बतलाया तुमने तात ! ।
मनकी चंचलताके कारण मुझे हो रहा अस्थिर ज्ञात ॥

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

क्योंकि कृष्ण !यह मन चंचल है दृढ़ है,हठी और बलवान ।
इसका निग्रह वायु-सरीखा दिखता मुझको कठिन महान ॥

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

अर्जुन ! मन चंचल है इसका निग्रह करना कठिन अवश्य ।
किन्तु पार्थ ! अभ्यास तथा वैराग्य कियेसे हो यह वश्य ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

पुरुष हजारोंमें कोईसा यत्न सिद्धि हित करै सुजान।
उन सिद्धोंमेंसे भी कोई पाता मेरा सच्चा ज्ञान॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥

भू, जल, अग्नि, वायु, पंचम नभ, अहंकार, मन, बुद्धि-पदार्थ।
ऐसें आठ प्रकार प्रकृति यह भिन्न हुई है मेरी पार्थ !॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यतेजगत्॥ ५॥

यह है "अपरा" प्रकृति वीरवर इससे भिन्न "परा" को जान।
जीवभूत है, जिससे सारा यह जग ठहरा हुआ महान॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥

इस जगके ये सारे प्राणी हैं इन दोनोंके ही अंश।
मैं सब जगको पैदा करता मैं ही करता हूं विध्वंस॥

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

यहां विश्वमें मुझसे परतर और नहीं कुछ भी है पार्थ !।
एक सूत्रमें मणिगणके सम गुथे मुझीमें सकल पदार्थ॥

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यंते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौंतेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

अन्तसमयमें देह छोड़ता जिन भावोंका करता ध्यान।
उसी भावमें रँगा हुआ वह उसी भावमें मिले सुजान ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३

"ॐ" इस एकाक्षर ब्रह्मको जपता भजता मुझको सन्त।
देह छोड़ करके जो जाता उसे परम गति मिले तुरन्त ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवंति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥१५

मुझको पाकर, पुनर्जन्म जो है अनित्य दुःखोंका स्थान।
उन्हें नहीं होता है, वे तो परम सिद्धिको पाये जान ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यांतः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२

जिसके भीतर सकल जीव हैं यह सब जग जिससे है व्याप्त।
पार्थ ! अनन्य भक्तिसे ऐसा परम पुरुष होता है प्राप्त ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजंतो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

भेद अभेदभावसे कुछ जन, कुछ जन ज्ञानयज्ञसे वीर !।
कुछ जन नाना रूपमयी गिन मुझको सेते हैं धर धीर ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

मैं हूं माता पिता विश्वका और पितामह जगदाधार।
मैं ही हूं ऋक्, साम, यजु, श्रुति, और ज्ञेय मैं ही ओंकार॥

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

गति, पोषक, साक्षी प्रभु मैं हूं शरण, सखा, हूं वास, निधान।
उत्पत्ति प्रलय स्थिति मैं हूं अव्यय बीज मुझे ही जान॥

अनन्याश्चिंतयंतो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२

हो अनन्य जो मेरा चिन्तन करते भजते मुझे सप्रेम।
नित्य योग-युत पुरुषोंका मैं ही करता हूं योगक्षेम॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजंते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौंतेय यजंत्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

और देवताओंको भजते जो मानव हो श्रद्धाधीन।
ये भी मुझको ही भजते हैं पर भजते हैं विधिसे हीन॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

पत्र, पुष्प, फल, जल, जो मेरे अर्पण करे सभक्ति विनोद।
प्रयत चित्तके दिये हुए उसको, मैं करता ग्रहण समोद ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजंति तु मां भक्त्या मयि ते तेषुचाप्यहम् ॥२६॥

नहीं मुझे प्रिय, अप्रिय कोई मैं हूं सबको एक समान।
जो भजते हैं मुझे भक्तिसे मैं उनमें, वे मुझमें जान ॥

नांतोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

मेरे दिव्य विभूतिवर्गका अन्त नहीं तू कभी विचार।
बस दिग्दर्शन-हेतु कहा है यह विभूतियोंका विस्तार ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

अथवा बहुत जानकर इसको क्या करना है? पण्डुकुमार!।
मैंने अपने एक अंशसे व्याप्त किया है यह संसार ॥

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।

नाथ! तुम्हारे इस शरीरमें देखूं सभी देवगण मैं।
देख रहा हूं और अनेकों प्राणिगणोंको इस क्षणमें ॥

ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-

मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

ब्रह्माको पद्मासन ऊपर, और सकल ऋषियोंको भी ।
तथा देखता हूं मैं सारे दिव्य रूप अहियोंको भी ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम् ।

नाना भुजें; उदर, मुख, आँखों युक्त निहारत हूं तुमको ।
चारों ओर अनन्त-स्वरूपी मैं विचारता हूं तुमको ॥

नांतं न मध्यं न पुनःस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

अन्त, मध्य फिर आदि तुम्हारा नहीं दृष्टिमें आता है ।
विश्वेश्वर यह रूप तुम्हारा सकल विश्वमें पाता है ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

परब्रह्म हो तुम्हीं, जानने योग्य ज्ञान हो सब जगके ।
तथा आप ही प्रभो ! मनोहर पर निधान हो सब जगके ॥

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ ८ ॥

नित्य सनातन धर्मों के तुम रक्षक हो अविनश्वर भी ।
मुझे जान पड़ता है तुम हो नाथ ! सनातन नरवर भी ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनंतरूप ॥ ३८ ॥

आदि-देव हो पुरुष पुरातन जग-आधार तुम्हीं भगवान ! ।
ज्ञाता ज्ञेय अरु श्रेष्ठ धाम हो व्याप्त तुम्हींसे विश्व महान ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

वायु,अग्नि,यम, वरुण,प्रजापति,प्रपितामह शशि हो करतार ।
बारबार हैं तुमको मेरे हे भगवान ! प्रणाम हजार ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।

हे सर्वात्मक है सम्मुखसे मेरा तुम्हें प्रणाम विशेष ।
पीछेसे है सभी ओरसे नमस्कार तुमको सर्वेश ! ॥

अनंतवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

अतुल वीर्य है और आपका अमित पराक्रम है, जगदीश ! ।
तुम यथेष्ट हो सबको, इससे तुम्हीं कहाते सबके ईश ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।

पिता चराचर सकल लोकके प्रभो ! आपही हो भगवान !
पूजनीय हो और आपही गुरुओंके भी प्रगुरु महान ॥

न त्वत्समोस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥ ४३ ॥

नहीं आपसे बढ़कर कोई नहीं आपके तुल्य स्वभाव ।
हो भी कैसे, इस जगमें है ऐसा अतुलित कहां प्रभाव ॥

संनियम्येंद्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवंति मामेव सर्वभूतहितेरताः ॥ ४ ॥

वश कर इन्द्रिय-बृन्द सर्वदा रखते साम्य बुद्धिका योग ।
सर्वभूत हितमें रत रह, वे प्राप्त मुझे ही होते लोग ॥

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

मुझमें चित्त लगानेवाले उन लोगोंको, पाण्डुकुमार ! ।
मृत्युमयी इस जग सागरसे झट कर देता हूं उद्धार ॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।

निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

द्वेष-रहित, सब जीवोंका हो मित्र, क्षमा-युत ममता त्याग ॥
बिना अहंकृति और दयामय सुख-दुखमें जो सम बड़भाग ॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४

जिसके मुझमें सदा बुद्धि मन तुष्ट हुये रहते हैं सक्त ।
दृढनिश्चयवाला, स्थिर मनका मुझको प्यारा ऐसा भक्त ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

जिसे जानकर मोक्ष प्राप्त हो ऐसे अब कहता हूं बात ।
परब्रह्म वह है अनादि भी नहीं असत् सत् कभी न तात ! ।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

हाथ, पैर, आंखें मुख, मस्तक, और कान उसके सब ओर ।
और वही हे भारत ! जगमें व्याप रहा सबमें सब ठौर ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च १६

वह अविभक्त हुआ भी सबमें है विभक्तसा पाण्डुकुमार !!
पैदा करता, पालन करता, और वही करता संहार ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् १७

सब तेजोंका तेज वही है, तमसे परे वही है ध्येय ।
सबके हृदयोंमें वह स्थित है, ज्ञान गम्य है उत्तम ज्ञेय ॥

समं पश्यन्ति सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८

सदाकाल परमेश्वरको सम रूप जानता सबमें व्याप्त ।
घात न अपनी आप करे जो वही ब्रह्ममें होता प्राप्त ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

पुण्यकर्मका फल मिलता है जनको निर्मल सत्व प्रधान ।
दुःख रजोगुणका फल होता और तमोगुण फल अज्ञान ॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

ज्ञान सत्वमें पैदा होता लोभ रजोगुणसे हो एक ।
और तमो गुणसे होते हैं मोह, प्रमाद तथा अविवेक ॥

ऊर्ध्वङ्गच्छंति सत्वस्था मध्ये तिष्ठंति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छंति तामसाः १८

सात्विक जन स्वर्गादि लोकको पाते राजस मध्यम लोक।
और तमोगुणमें स्थित जनको सदा अधोगति मिलै सशोक।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

जो जन कारणरूप जीतले इस शरीरके ये गुण तीन।
जन्म, मरण, वृद्धत्व दुखोंसे हो विमुक्त, वह सुखमें लीन॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

कान और आंखें, त्वग्, जिह्वा, नासा मनसंयुक्त तथैव।
इनके आश्रयसे यह करता जीव विषय उपभोग सदैव॥

उत्क्रामंतं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यंति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

एक देहसे देहान्तरको जाते, रहते, करते, भोग।
गुणयुत इसे विमूढ न देखैं, देखैं ज्ञान-दृष्टिके लोग॥

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

निर्भयता, शुचि वृत्ति, सात्विकी और सुसंस्थित रहना ज्ञान।
यज्ञ तथा इन्द्रिय-संयम हो स्वाध्याय तप आर्जव दान॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

सत्य, अहिंसा, क्रोध त्यागना, अपैशुन्य, हो भाव सुशान्त ।
अतिदयालु, निर्लोलुप, मृदु हो अचपल लज्जावान नितान्त ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

तेज, क्षमा, अद्रोह, शौच, धृति, निरभिमानिता, हो पर्याप्त ।
दैवी प्रकृति-जन्य पुरुषोंको भारत ! ये गुण होते प्राप्त ॥

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥

दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, फिर कर्कशता अति हो अज्ञान ।
जो आसुर सम्पत्में होते, ये अवगुण उनमें तू जान ॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबंधायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ॥५॥

दैवी सम्पत् मोक्षदायिनी और आसुरी बन्धन-हेतु ।
हुआ दैव-सम्पतमें है तू मतकर शोक भरत-कुल-केतु ! ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

दो प्रकारकी जीव-सृष्टि है देव एक है आसुर एक।
देव कही विस्तार-पूर्व अब आसुरको तू सुन सविवेक॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दंभमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥१०॥

कर आश्रय दुष्पूर कामका, दम्भ, मान, मदसे हो भ्रान्त।
कुत्सित कर्म मोहसे करते मनमाने करके सिद्धान्त॥

आशापाशशतैर्बद्धा कामक्रोधपरायणाः।
ईहंते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्॥१२॥

आशापाशोंसे वे जकड़े काम-क्रोधमें होकर लीन।
सुखके हित अनीतिसे करते वे धनकी इच्छा मतिहीन॥

अनेकचित्तविभ्रांता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतंति नरकेऽशुचौ॥१६॥

विविध कल्पनाओंमें भूले फँसे मोहमें ऐसे नीच।
काम-भोग आसक्त हुए वे पड़ते अशुचि नरकके बीच॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥१६॥

अशुभ क्रूर कर्मोंके कर्ता मेरे द्वेषी अधम तथैव।
इन्हें आसुरी योनि बीचही पार्थ! डालता रहूं सदैव॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।

मामप्राप्यैव कौंतेय ततो यांत्यधमां गतिम् ॥२०॥

इस प्रकार वे जन्मजन्ममें आसुर योनि प्राप्त हो लोग ।
मुझे न पाकर, वे पाते हैं महा अधमगतिका संयोग ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥१३॥

श्रद्धामय है पुरुष पार्थ ! यह श्रद्धा होती सत्वसमान ।
जिस जनके जैसी श्रद्धा हो उसको तू वैसाही जान ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

देव, विप्र, गुरु, प्राज्ञ, पूजना तथा सरलता शौचाचार ।
और अहिंसा, ब्रह्मचर्य ये कायिक तप हैं पाण्डुकुमार ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

वचन सत्य, हित, प्रियकर हो जो मनको नहीं करे उद्विग्न ।
और पाठ वेदोंका अर्जुन ! ये हैं वाचिक तप निर्विघ्न ॥

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

मन प्रसन्नता मौन सौम्यता आत्म-विनिग्रह भाव विशुद्धि।
हे भारत! इनको मानस तप बतलाते हैं पुरुष सुबुद्धि॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥१७॥

यदि श्रद्धासे ये तीनों तप, मन स्थिर कर फल-आशा त्याग।
किये जांय तो कहलाते हैं सब ही सात्विक हे बड़भाग!॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥१८॥

किये जांय पाखण्ड पूर्ण जो निज सत्कार मान पूजार्थ।
अस्थिर और सुचंचल वे तप राजस कहलाते हैं पार्थ!॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् १९

यह देना है यही समझकर अनुपकार नरको पहचान।
देश तथा सत्काल, पात्रमें दिया जाय, वह सात्विक दान॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥२०

ओम् तत्, सत्, ये परब्रह्मके तीन नाम कहते हैं तज्ज्ञ।
इनके द्वारा ही ये सारे विरचे गये वेद द्विज यज्ञ॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियंते मोक्षकांक्षिभिः २१

"तत्" इसको पढ़कर फलको तज यज्ञ दान तप आदिक कार्य ।
नानाविध करते रहते हैं पुरुष मोक्ष-अभिलाषी आर्य ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२२॥

यज्ञ, तपस्या और दानमें स्थिति हो उन्हें कहें सत् आर्य ।
और उन्हें भी सत् ही कहते जो तदर्थ होते हैं कार्य ॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥२३॥

करनेके ही योग्य दान, तप, यज्ञ कर्म तो त्याज्य न मित्र ।
यज्ञ, दान, तप कर देते हैं विद्वानोंके हृदय पवित्र ॥

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥२४॥

ये भी कर्म संग, फल आशा तजनेसे ही हैं कर्तव्य ।
ऐसा निश्चित मत मेरा है अर्जुन ! सकल मतोंमें भव्य ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ५२

कार्य, अकार्य तथैव भयाभय उनमें और निवृत्ति प्रवृत्ति।
तथा जानती बंध मोक्षको उस मतिकी है "सात्विक" वृत्ति ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥२६

बुद्धि "तामसी" है वह जिससे हो अधर्ममें धर्म-ज्ञान।
तमसे व्याप्त हुई जो लेती सब अर्थोंको उलटे मान ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥२७॥

सकल कर्म करता भी जो नर लेता मेरा आश्रय धार।
मेरे परम अनुग्रहसे वह पाता शाश्वत पद अविकार ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥२८॥

जो नर धर्म समेत हमारा यह संवाद पढ़ेगा पार्थ !।
मैं मानूंगा ज्ञानयज्ञसे उसने पूजा मुझे यथार्थ ॥

वेद, उपनिषत् तथा स्मृतिवाक्य

यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

अथर्व वेद ११।२।४।१

(अर्थ)—जो सबका स्वामी है जिसकी सत्तामें सब वस्तु रहती हैं वही परमेश्वर है ।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छति ॥
ब्रह्मचर्येण कन्या च युवानं विन्दते पतिम् ।
ब्रह्मचर्येण तपसा देवामृत्यु मपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराडभवत् ॥

अथर्व० ३ । प्र० २४ । का० ११

(अर्थ) ब्रह्मचर्यरूपी तपसे राजा राष्ट्रकी रक्षा करता है । आचार्य ब्रह्मचर्यरूपी तपसे ही ब्रह्मचारीको अपने पास बुलाता है । ब्रह्मचर्य धारण करके ही कन्या युवा पतिको प्राप्त होती है । ब्रह्मचर्यरूपी तपसे ही देवोंने मृत्युको जीता है। इन्द्र भी ब्रह्मचर्यरूपी तपसे देवोंका स्वामी बना हुआ है ।

(समीक्षा) ब्रह्मचर्य शब्दसे हमारे प्राचीन ऋषि इन्द्रियदमन-का अर्थ लेते थे। इसके द्वारा ही बुद्धिबल तथा विद्याबल और

शारीरिक बल प्राप्त हो सकता है। ऊपरके वेदमंत्रमें ब्रह्मचर्य शब्द तीनों प्रकारके बलोंके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

यजुर्वेद १८-३

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ॥ २ ॥

अर्थ—मैं मित्रकी दृष्टिसे सब प्राणियोंको देखूं।

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट्
स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः ॥ कैवल्य उपनिषद् ।

(अर्थ)—सब जगत्के बनानेसे "ब्रह्मा", सर्वत्र व्यापक होनेसे "विष्णु", दुष्टोंको दण्ड देकर रुलानेसे "रुद्र", मङ्गलमय और सबका कल्याण कर्त्ता होनेसे "शिव", कभी भी नष्ट न होनेसे "अक्षर", स्वयम् प्रकाशरूप हानेसे "कालाग्नि" इत्यादि सहस्रों नाम आर्यशास्त्रोंमें परमात्माके लिखे गये हैं।

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥
एतमेके वदन्त्यग्निम्मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥

मनुः अ० १२ श्लो० १२२। १२३

(अर्थ) परमात्मा वह है जो सबपर शासन करता है। जो सूक्ष्म वस्तुसे भी अति सूक्ष्म है, जो प्रकाशस्वरूप है, जो अति-सूक्ष्म होनेके कारण समाधिवाली बुद्धिसे ही जाना जाता है।

आर्य्यशास्त्रोंमें ईश्वरके अनेक नाम आते हैं। यथा-स्वप्रकाश होनेसे "अग्नि" बोला जाता है, विज्ञान स्वरूप होनेसे "मनु", सब जगत्का विधाता होनेसे "प्रजापति", परमैश्वर्यवान् होनेसे "इन्द्र", सबका मूल जीवन होनेसे "प्राण" और निरन्तर व्यापक होनेसे परमेश्वरका नाम "शाश्वत्" ब्रह्म है।

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥२।१३॥

(अर्थ) जिन मनुष्योंका मन, धन तथा स्त्रीमें आसक्त नहीं है उन्हींके लिये धर्मका उपदेश है। धर्मको जाननेके इच्छुक धर्मप्रमाणके लिये श्रुतिका आश्रय लें।

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ २।६॥

(अर्थ) सम्पूर्णवेद, वेदोंके जाननेवालोंकी स्मृति तथा शील और साधु पुरुषोंका आचार और आत्मतुष्टि ये पांचों वस्तु धर्मके निर्णयमें प्रमाणभूत हैं।

पूर्वां सन्ध्यां जपं स्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति ।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥२। १०२॥

(अर्थ) प्रातःकालकी सन्ध्यामें गायत्रीका जप करनेसे रात्रिका पाप नष्ट होता है और सायंकालकी सन्ध्यामें जप करनेसे दिनका पाप दूर होता है।

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ।२। १०३

(अर्थ) जो द्विज प्रातः तथा सायंकालकी सन्ध्या नहीं करता है उसे सभी द्विजके कर्मों से पृथक् कर देना चाहिये ।

आकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवःस्वरितीति च ।२। ७६

(अर्थ) प्रजा पतिने तीनों वेदोंसे अकार उकार मकार (ॐ) तथा भूः भुवः स्वः ये तीनों व्याहृति क्रमसे ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेदसे दोहन की हैं ।

गृहस्थोंको नित्य प्रति पांच हत्याएं लगती रहती हैं, उनके प्रायश्चित्तके लिये पञ्च महायज्ञ अवश्य करने चाहिये ।

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम् ॥२। ७०॥

(अर्थ) पढ़ना पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ, तर्पण पितृ यज्ञ, होम देवयज्ञ, जीवोंको बलिदेना भूत यज्ञ, और अतिथिपूजन मनुष्य यज्ञ है ।

पञ्चैतान् यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।
सगृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्नलिप्यते ॥२॥ ७१॥

(अर्थ) जो इन पंच महायज्ञोंको शक्ति पूर्वक करता रहता है वह घरमें रहता हुआ भी हत्याओंसे बचा रहता है ।

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥४। १५६॥

(अर्थ) आचारसे मनुष्य पूर्णायु होता है, अभिलषित फल प्राप्त करता है, धनको प्राप्त होता है और आचार अशुभ फल सूचक कुलक्षणको मिटाता है।

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ।।४। १६७॥

(अर्थ) खोटे आचरणवाला मनुष्य संसारमें निन्दित होता है, हमेशा दुःख भोगता है और अल्पायु होता है।

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् ।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ।१२। ३

(अर्थ) शुभ या अशुभ फलवाला कर्म कायिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकारका होता है। इन कर्मोंके अनुसार ही मनुष्य उत्तम मध्यम और अधम गतिको प्राप्त होते हैं।

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥२।१०॥

(अर्थ) श्रुति नाम वेदका है और मन्वादि धर्मशास्त्र स्मृति हैं। ये दोनों ही प्रतिकूल तर्कोंसे विचारने योग्य नहीं हैं, क्योंकि इनसे ही सम्पूर्ण धर्मका प्रकाश हुआ है।

सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥
तस्मिन्देशे यः आचार पारंपर्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥२।१७।१८॥

(अर्थ) सरस्वती और दृषद्वती नामक दो देवनदियोंके बीचके देशका नाम ब्रह्मावर्त देश है। इस देशमें प्रायः शिष्ट पुरुष ही निवास करते हैं। इस देशके निवासी ब्राह्मण तथा इतर जातियोंका जो परम्परागत आचार है उसका नाम ही सदाचार है। हारीत :—

ब्रह्मण्यता देवपितृभक्तता सौम्यता अपरोपतापिता अनसूयता मृदुता अपारुष्य मैत्रता प्रियवादित्वं कृतज्ञता शरण्यता कारुण्यं प्रशान्तिश्चेति त्रयोदशविधशीलम् ।

(अर्थ) इन वेदानुयायी श्रेष्ठ पुरुषोंका शील तेरह प्रकारका है। ब्रह्मपरायण रहना, देव तथा पितृ भक्ति रखना, प्रसन्न मुख रहना, बिनाकारण दूसरोंको ताप नहीं पहुँचाना, किसीके गुणमें दोषारोपण नहीं करना, कठोरतासे वर्ताव नहीं करना, कटुवाक्य नहीं बोलना, सबकी भलाईमें रहना, मधुरभाषी होना, किये हुए उपकारको नहीं भूलना, दुःखी मनुष्यको शरण देना, दुःखीपर दया करना, शान्त चित्त रहना, आर्य पुरुषोंकी यह तेरह प्रकारकी प्रकृति रहती है।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥२।२०॥

(अर्थ) ब्रह्मावर्त आदि देशनिवासियोंके सकाशसे पृथ्वी भरके मनुष्य अपने अपने चरित्रोंको सीखें ।

आ समुद्रात्तु वै पूर्वा दा समुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥२।२२॥

(अर्थ) पूर्वकी ओर समुद्र पर्यंत और पश्चिमकी ओर भी समुद्रपर्यंत और हिमाचल तथा विन्ध्याचल पर्वतोंके मध्य भाग-वर्ती देशका नाम आर्यावर्त है ।

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यै र्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥२।२६॥

(अर्थ) आर्यावर्त निवासी द्विजन्मा लोगोंका शरीर संस्कार पवित्र वैदिक कर्मों द्वारा होना चाहिये । इस लोक तथा परलोक तक इन वैदिक कर्मोंके संस्कारोंका पवित्र प्रभाव मनुष्यके अंतः करणमें रहता है ।

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्न मा तिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥२।८८॥

(अर्थ) चित्तको हरनेवाले विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंको यत्न पूर्वक इस प्रकार विद्वान् लोग अपने वशमें रखें जिस प्रकार कि एक सारथी अपने घोड़ोंको वशमें रखता है ।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्य संशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥२।९३॥

(अर्थ) मनुष्य इन्द्रियोंके प्रसंगसे निस्सन्देह दोषको प्राप्त होता है और इन्हींको स्वाधीन करके सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥२।९७॥

(अर्थ) वेदाध्ययन, यज्ञ करना, सन्ध्या वन्दन आदिके नियम पालना, व्रतादि रूप तप करना, इन्द्रियोंको खुला छोड़कर निषिद्धाचरण करनेवाले व्यक्तिको कुछ लाभ नहीं देते हैं।

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥२।१५३॥

(अर्थ)हमारे प्राचीन आर्य शास्त्रोंका यह नियम है कि यथार्थमें बालक उसको ही कहा जाय जो मूर्ख है। शास्त्रोंकी दृष्टिमें छोटी अवस्थावाला बालक नहीं है। पिता वही है जो वेदोंका ज्ञान देता है।

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषय श्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥२।१५४

(अर्थ) बहुत वर्षकी आयु होनेसे, केश श्वेत होनेसे, पासमें अधिक धन होनेसे वा अधिक कुटुम्बवाला होनेसे मनुष्य महान् नहीं हो सकता है, किन्तु ऋषियोंने तो यह मर्यादा बाँधी है कि वेदज्ञानमें पारङ्गत होनेवाला मनुष्य ही महान् कहा जाय।

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठाः ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः १२।१०३

(अर्थ) जो सर्वथा अज्ञ हैं उनसे तो ग्रंथ जाननेवाले श्रेष्ठ हैं। ग्रंथ पढ़नेवालोंमें वे श्रेष्ठ हैं जो ग्रंथको भूले नहीं हैं। ग्रंथ न भूलनेवालोंमें वे श्रेष्ठ हैं जो ग्रंथका अर्थ भी जानते हैं और ग्रंथका अर्थ जाननेवालोंमें वे श्रेष्ठ हैं जो ग्रंथके आदेशोंका पालन करते हैं।

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् ।
तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥१२।१०४॥

(अर्थ) विप्रके लिये तप और विद्या मोक्षके साधन हैं। भारतीय आश्रमविहित स्वधर्माचरणका नाम तप है और विद्या नाम आत्मज्ञानका है। स्वधर्माचरण रूपतपसे पापका नाश होता है और आत्मज्ञानसे मोक्षप्राप्ति होती है।

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥

(अर्थ) धर्म तत्वको जाननेकी इच्छावाला प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण तथा नाना प्रकारके शास्त्रोंको अच्छी प्रकार अवलोकन करे।

वेदशास्त्रार्थतत्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१२।१०२॥

(अर्थ) जो मनुष्य वेदशास्त्रके तत्वको जानता है वह चाहे किसो आश्रममें रहे इस लोकमें रहता हुआ ही मोक्षपदका अधिकारी हो जाता है।

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥१२।१०८

(अर्थ) यदि किसी स्थलपर स्पष्टतया धर्म निर्णय नहीं जान पड़े तो उस स्थानपर शिष्ट ब्राह्मणोंकी सम्मति लेनी चाहिये वे जो कुछ बतायें वही धर्म है।

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥१२।१०९

(अर्थ) जिन ब्राह्मणोंने ब्रह्मचर्यादि युक्त धर्मका पालन करते हुए वेदाध्ययन किया है और वेदोंके अंगभूत मीमांसा धर्मशास्त्र आदिका भी अच्छी प्रकार मनन किया है वे शिष्ट ब्राह्मण हैं। ये शिष्ट ब्राह्मण ही श्रुतिको पढ़कर उसके अर्थोंका उपदेश करते है। इसी लिये इनको श्रुतिप्रत्यक्षहेतु कहते हैं अर्थात् श्रुतिके प्रत्यक्ष करनेमें ये हेतुभूत होते हैं।

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥१२।११३॥

(अर्थ) वेदार्थ धर्मको जाननेवाला एक भी विद्वान् जिस धर्मका निर्णय कर दे वह यथार्थ धर्म है और शास्त्र ज्ञानसे शून्य यदि दश सहस्र व्यक्ति भी धर्मका निर्णय कर दें तो वह निर्णय त्याज्य है।

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥
यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः ।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति ॥१२।११४।११५

(अर्थ) जिन्होंने सावित्री ग्रहण करके ब्रह्मचर्य व्रतका पालन नहीं किया है जिन्होंने वेदाध्ययन नहीं किया है, जो ब्राह्मण जातिमात्रधारी हैं ये यदि बहुत भी एकत्र हो जायें तो धर्म निर्णयमें इनका एकत्र होना सभाके नामसे नहीं कहा जा सकता, यह तो तमोगुण युक्त बहुत मूर्खों का समुदाय हैं। क्योंकि धर्म प्रमाणमें ये वेदार्थको नहीं जानते। इनका बताया हुआ धर्मके निर्णयका प्रायश्चित्तादि दंड सौगुणा होकर पापरूपमें इन्हींको प्राप्त होता है।

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमो निष्ठा हिताः स्मृताः ॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥१२१।५।९६॥

(अर्थ) जो वेद बाह्य धर्मग्रंथ है और जो कुछ वेदविरुद्ध दर्शन शास्त्र है परलोकमें वह सब निष्फल हैं, क्योंकि उनका आधार अज्ञान रूप अंधकारपर है।

ऐसे वेदविरुद्ध धर्म-ग्रंथ तथा दर्शन वा अन्य सिद्धान्त उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। ये आधुनिक हैं, निष्फल हैं और मिथ्या हैं।

(समीक्षा) यदि कोई कहे कि मनुमहाराजने भी पक्षपातसे दूसरे धर्मों तथा दर्शनोंकी निन्दा की है जैसा कि वेदसे इतर दामवप्रयसले भी अपने धर्मग्रंथोंको प्रशंसा करते हैं और दूसरों की निन्दा।

यथार्थमें यह बात नहीं है, वेदोंका जो ज्ञान है वह प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों प्रमाणोंके आधारभूत है। वैदिक ऋषि सत्यके प्रेमी रहे हैं। संसारको अनुभव होता जा रहा है कि वर्तमानके जितने भी विज्ञान निकलते आते हैं वे वैदिक सिद्धान्तोंकी सत्यताके विरुद्ध नहीं हैं। इसी प्रकार आगेको भी ऐसा ही होता रहेगा।

हमारे आर्य ऋषियोंने तो धर्मके निर्णयमें सबको स्वतंत्रता दे रखी है कि हमारे वैदिक सिद्धान्तोंको प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणोंकी कसौटीपर कसते रहो। यदि इस कसौटीपर ठीक नहीं निकलें तो इनको त्याग दो। इन्हें किसी भी बातका पक्षपात तो है ही नहीं। इनका तो सिद्धान्त ही है कि—

" नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात् पातक परम् "

" सत्यमेव जयते नानृतम् "।

धर्मके लक्षण—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

॥ मनुः अ० १०।६३॥६।६१।६२ ॥

इंग्लिश अनुवादः—

Harmlessness, truthfulness, honesty, cleanliness this in brief is declared by Manu to be the duty of all four classes.

By all the four orders of all the twiceborn should this tenfold Dharma be served and followed diligently.

Patience, forgiveness, self control, probity, purity, self-restraint, reasonableness, learning, truth, freedom from anger; these ten are the marks of duty.

हिंसा नहीं करना, सत्य भाषण, चोरीत्याग, शुद्धि, और इन्द्रियोंका दमन, चारों वर्णोंके मनुष्योंके लिये यह संक्षेपमें धर्म बताया गया है।

द्विजातियोंके लिये चारों ही आश्रमोंमें ये दश लक्षण वाला धर्म यत्नपूर्वक सेवनीय है।

धैर्य, क्षमा, अन्तःकरणकी वृत्तियोंको स्वाधीन रखना, चोरीत्याग, शुद्धि, इन्द्रियोंको निषिद्धाचरणसे रोकना, शास्त्रको धारण करनेवाली बुद्धि, विद्याभ्यास, सत्यभाषण, और क्रोधका त्याग धर्मके ये दश लक्षण हैं।

आर्यशास्त्रोंमें गुणकर्मानुसार ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण माने गये हैं। यथा:—

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जाति परिवृत्तौ।
अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णः जघन्य वर्णमापद्यते ॥

॥ आपस्तम्ब धर्मसुत्र ॥

(अर्थ) धर्माचरणसे निकृष्ट वर्णवाला व्यक्ति अपनेसे ऊपर वाले वर्णको प्राप्त होजाता है। अधर्माचरणसे उत्तम वर्ण वाला मनुष्य अपनेसे नीचेवाले वर्णको प्राप्त होता है और वह उसी वर्णमें गिना जाता है जिसके वह योग्य होता है। अतः धर्मका त्याग कोई बुद्धिमान मनुष्य न करे। जैसा कि महाभारतमें कहा गया है:—

न जातु कामान्न भयान्न लोभात् ।
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ॥
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये ।
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥ महाभारत ॥

(अर्थ) मनुष्यको उचित है कि काम, भय और लोभकी वृत्तियोंके अधीन होकर कभी भी धर्मके विरुद्ध आचरण न करे, क्योंकि धर्म तो नित्य है और सांसारिक सुख दुःख अनित्य हैं। जीव नित्य है और इसको सुख दुःखोंमें बांधनेवाला हेतु अर्थात् शरीर अनित्य है।

बौद्ध धर्मका धम्मपद, सहस्रवर्गः—

वह स्थान बड़ाही रमणीक प्रतीत होता है जहां ब्रह्मनिष्ठ निवास करते हैं।

विरक्त मनुष्योंको बनमें बड़ाही आनंद प्राप्त होता हैं।

सहस्र शब्दोंकी अपेक्षा एक शब्दही उत्तम है यदि उसको सुनकर हृदयमें शान्ति प्राप्त हो।

वास्तविक जय वही है जो अपने अंतःकरणपर प्राप्तकी जाय। उस मनुष्यको कोई पराजित नहीं कर सकता जिसने अपनी वृत्तियोंको पराजित कर लिया है। अ० ८ श्लो० ८८।१००।१०४

जिस मनुष्यने निरंतर शतवर्ष पर्यंत यज्ञ किया और उसने किसी एक क्षणमें एक तत्वज्ञानीकी सेवाकी तो उसका वह एक क्षण उन शतवर्षोंसे अधिक श्रेष्ठ है। ८। १०६

यदि कोई मनुष्य शतवर्ष पर्यंत जीता रहे और तत्वज्ञानको नहीं प्राप्त करे तो उसका जीना निष्फल है। यदि वही मनुष्य केवल एक दिवसकी आयु प्राप्त करे और उस एक दिवसमेंही तत्वज्ञान प्राप्त करले तो वह एक दिवसकी आयु शतवर्षवाली अज्ञानकी आयुसे अधिक उत्तम है। ८।११५

एक दिवसका जीवन जिसमें ज्ञान और विवेक प्राप्त हो सौ वर्षके जीवनसे उत्तम है जो अज्ञान और असंयमके साथ व्यतीत किया जाय। ८। १११

एक दिवसका जीवन जिसमें मानसिक बल प्राप्त हो गत-वर्षके उस जीवनसे अधिक उत्तम है जिसमें आलस्य और मानसिक निर्बलता ही प्रधान हो। ८। ११२

यदि कोई मनुष्य पापमय जीवन व्यतीत करता है तो उसको चाहिये कि उसी क्षण पापाचरणका त्याग करदे, क्योंकि पापकी पूंजी कष्टप्रद है। ८। ११७

यदि कोई व्यक्ति धर्माचरण कर रहा है तो उसको चाहिये कि धर्माचरणसे कदापि नहीं हटे। धर्मका संग्रह सुखप्रद होता है। ८। १८

पापाचारी मनुष्य तभी तक प्रसन्न रहता है जब तक कि पापकर्मका फल नहीं प्रारंभ होता है। ८।११८

धर्माचरणशील मनुष्य तभीतक कष्टमें है जबतक कि धर्मके फलका उदय नहीं हुआ है। ८। १२०

शरीरको वशमें रखो। शारीरिक पापोंको त्याग दो। शरीर द्वारा सात्विक कर्म ही करो। १७। २३१

जिह्वाको वशमें रखो, जिह्वाकृत पापोंसे बचो। जिह्वा द्वारा सात्विक कर्म ही करो १७। २३२

मनको वशमें रखो। मानसिक पापोंको त्यागो। मन द्वारा सात्विक कर्म ही करो १७। २३३

बुद्धिमान् मनुष्य शरीर, वाणी और मनका संयम करके संयमी रहते हैं। १७।२३४

बुद्धिमान मनुष्यको अपनी मानसिक अशुद्धियोंको नित्य दूर करते रहना चाहिये १८।२३८

जो मनुष्य जीवहिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, अन्यकी भार्यासे गमन करता है, मदिरा पान करता है,

वह व्यक्ति इसी लोकमें अपनी जड़ काटता है १८।२४९।२४७

लोभ और पापाचरणसे सावधान रहना चाहिये इसके द्वारा अपरिमित चिन्ता आती है। १८।२४८

क्रोधके समान इस लोकमें अग्नि नहीं है मनुष्योंसे घृणा रखनेके समान कोई ग्राह नहीं, मूर्खतासे अधिक कोई पाश नहीं है १८ । २५१

वह आलसी और निर्बलात्मा मनुष्य ज्ञानको नहीं पा सकता है जो युवा और बली होने पर भी आलसी है; जो उस समय नहीं उठता है जब कि उठना चाहिये। २०।२०८

वाणीको सावधानता रखते हुए, मनको अच्छी प्रकार वश में रखते हुए मनुष्यको अपने शरीरसे कोई पाप नहीं करना चाहिये ।

बुद्धिमान् मनुष्यको यह तीन मार्ग स्वच्छ रखने चाहिये इन्हीं तीन मार्गोंसे वह स्थान प्राप्त हो जायगा जिसको तत्वज्ञानियोंने बताया है। २०।२८१

कामनाओंके एक वृक्षका नहीं सम्पूर्ण वनका ही छेद करो, क्योंकि सब भय कामनाके वनसे आता है। जब तुमने कामनाके वनका छेदकर दिया है तब तुमको यह वन दुःखप्रद नहीं होगा। २०।२८३

उत्साहसे ज्ञान प्राप्त होता है। उत्साहके विना ज्ञानका नाश हो जाता है। उस मनुष्यको जो लाभ और हानिके इन मार्गोंको जान लेता है इस प्रकार जीवन बनाना चाहिये कि ज्ञान प्राप्ति ही होती रहे। २०।२८२

अहिंसाका वास्तविक स्वरूप—

सिंहने प्रश्न किया मैं एक सैनिक हूं, मुझे राजाने इसलिये अपनी सेवामें रखा है कि मैं उसके राज्यनियमोंको लोगोंसे पालन करवाऊं और उसकी तरफसे युद्ध करूं। क्या तथागत, जो सर्वदा लोगोंके साथ कृपालु रहने तथा दुखियोंके साथ दयाभाव दिखानेका उपदेश देता है, इस बातकी आज्ञा देता है कि अपराधियोंको दंड न दिया जाय? और क्या तथागत यह भी स्वीकार करता है कि हमारे गृहों, हमारी स्त्रियों, हमारी संतानों और हमारी सम्पत्तिकी रक्षा करनेके निमित्त युद्ध करना बुरा है? क्या तथागत यह उपदेश देता है कि मनुष्य सर्वथा उदासीन होकर दुष्ट व्यक्तियोंको उनकी इच्छाके अनुसार कार्य करने दें, और उस व्यक्तिकी आज्ञा मान लें जो हमारी सम्पत्तियोंका बलात्कारसे छीननेकी धमकी देता है? क्या तथागतका यह भी मन्तव्य है कि सम्पूर्ण झगड़ा जिसमें युद्ध भी सम्मिलित है एक न्यायसंगत कार्यके लिये नहीं किया जाय।"

बुद्धदेवने उत्तर दिया :—

"जो दंडके योग्य है उसको अवश्य दंड मिलना चाहिये जो कृपाका पात्र है उसपर कृपा करनी चाहिये। परन्तु साथहीमें मेरा यह भी उपदेश है कि किसी जीवको भी कष्ट नहीं दिया जाय, किन्तु सब जीवोंके प्रति प्रेम और कृपाका भाव रखना चाहिये। यह उपदेश एक दूसरेका विरोधी नहीं हैं, क्योंकि दंडार्ह व्यक्ति अपने किये हुए अपराधके कारण दंड पाते हैं; दंड दाताके मानसिक

द्वेषके कारण नहीं पाते हैं। जब कोई न्यायाधीश किसीको दंड देता है तो उसको मनमें द्वेषका भाव नहीं रखना चाहिये। किसीका वध करने वाला यदि उस वधके कारण मृत्युका दंड पाता है तो उसको यही समझना चाहिये कि मेरा यह दंड मेरे ही किये कर्मका फल है। ऐसा समझनेसे उसकी आत्मामे शुद्धि आती है, अपनी प्रारब्धपर दुःखी नहीं होता किन्तु प्रसन्न होता है।" तथागतकी यह भी शिक्षा है कि वह सब युद्ध शोचनीय ही है जिसमें एक मनुष्य अपने भाईका प्राण हरता है; किन्तु यह शिक्षा नहीं है कि जो मनुष्य शान्ति स्थापित रखनेके सब उपायों से निराश होकर एक न्यायके कामके लिये युद्ध करते है वे निन्दनीय हैं। निन्दनीय वही व्यक्ति हैं जिनके कारण युद्ध होता है। तथागत सर्वथा आत्मत्यागका उपदेश देता है किन्तु उसका यह उपदेश नहीं है कि दुष्ट शक्तियोंके पराधीन होकर उनको आत्मसमर्पण कर दो, चाहे वे मनुष्य हों, चाहे देव हों, चाहे पञ्च महाभूत हों, संग्राम तो होता ही रहना चाहिये। क्योंकि जीवन भी तो किसी प्रकारका संग्राम ही है। किन्तु संग्राम कर्त्ताको यह बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये कि यह संग्राम किसी स्वार्थके लिये तो नहीं हैं, सत्य और न्यायके विरुद्ध तो नहीं है।

उसको जो अपने स्वार्थके लिये इसलिये झगड़ता है कि वह महान् और शक्तिशाली धनिक और यशस्वी हो जाय, परलोकमें कोई फल नहीं प्राप्त होगा। किन्तु उसको जो न्याय और सत्यके लिये झगड़ता है महान फल प्राप्त होगा। क्योंकि उसकी पराजय

भी एक प्रकारकी महान जय है। हे सिंह! जो युद्धमें जाता है चाहे वह न्यायके लिये ही हो अपने शत्रुओं द्वारा मारा जानेके लिये उद्यत रहना चाहिये। क्योंकि योद्धाओंके भाग्यमें मृत्यु ही है, और यदि उसको मृत्यु प्राप्त हो जाय तो अप्रसन्न नहीं होना चाहिये।

परन्तु उसको जो जय प्राप्त करले यह स्मरण रखना चाहिये कि संसारके पदार्थ अनित्य हैं, चाहे उसको महान सफलता भी प्राप्त हो गई हो पर सम्भव है जीवनका चक्र पुनः घूमे और उसको धूलमें मिलादे। अतः महान् जयका अभिमान नहीं करना चाहिये।

यदि वह मध्यभावको धारण करेगा और अपने हृदयसे सब द्वेषकी वृत्तियोंको हटा देगा; अपने पराजित शत्रुको उन्नत रखेगा, और उससे कहेगा "अब आओ सन्धि करें और परस्पर भ्रातृभाव रखें,, तो ऐसा करनेसे उसको ऐसा जय प्राप्त होगा जो अस्थायी नहीं होगा। जिसके फल सदा स्थिर रहेंगे। हे सिंह! सफलताको प्राप्त करनेवाला सेनापति यद्यपि महान् है परन्तु वह मनुष्य जिसने अपने आपको जीत लिया है उससे अधिक महान् है।

इङ्गलिश अनुवाद—

True nature of Non-Violence,

Simha asked: " I am a soldier, O Blessed One, and am appointed by the King to enforce his laws and to wage his wars. Does the Tathagata, who teaches kindness without end, and compassion with all sufferers permit the punishment of the criminal ? And further,

does the Tathagata declare, that it is wrong to go to war for the protection of our homes, our wives, our children and our property ? Does the Tathagata teach the doctrine of a complete self-surrender, so that I should suffer the evil-doer to do what he pleases, and yield submissively to him who threatens to take by voilence what is my own ? Does the Tathagata maintain, that all strife, including such warfare as is waged fore a righteous cause, should be forbidden ?"

Buddha replied: "He, who deserves punishment, must ba punished, and he, who is worthy of favour, must be favoured. Yet at the same time, he teaches to do no injury to any living being, but to be full of love and kindness. These injunctions are not contradictory, for whcsoever must be punished for the crimes which he has committed, suffers his injury not through the ill-will of the judge, but on account of his evil-doing. His own acts have brought upon him the injury that the executer of the law inflicts. When a magistrate punishes, let him not harbour hatred in his breast, yet a murderer, when put to death, should consider that this is the fruit of his own act. As soon as he will understand that, the punishment will purify his soul, he will no longer lament his fate, but rejoice at it."

"The Tathagata teaches, that all warfare in which man tries to slay his brother is lamentable, but he does not teach that those who go to war in a righteous cause after having exhausted all means to preserve the peace are blameworthy. He must be blamed, who is the cause of war."

" The Tathagata teaches a camplete surrender of self, but he does not teach a surrender of anything to those powers, that are evil, be they men or gods or the elements of nature. Struggle must be, for all life is a struggle of some kind. But he, that struggles, should look to it, lest he struggle in the interest of self against truthand righteousness.''

" He who struggles in the interest of self, so that he himself may be great or powerful or rich or famous, will have no reward, but he who struggles for righteousness and truth, will have great reward, for even his defeat will be a victory."

" He who goeth to battle, O Simha, even though it be in a righteous cause, must be prepared to be slain by his enemies, for that is the destiny of warriors,—and should his fate overtake him, he has no reason for complaint."

" But he who is victorious should remember the instability of earthly things. His success may be great, but be it ever so great, the wheel of life may turn again and bring him down into the dust."

"However, if he moderates himself, and extinguishing all hatred in his heart, lifts his down-trodden adversary up, and says to him 'Come now and make peace and let us be brothers,' he will gain a victory, that is not transient success for its fruits will remain for ever."

" Great is a successful General, O Simha, but he who has conquered self, is the greater victor.—"

जैनधर्मका अध्यात्म तत्वालोक—३२।३३।३४ द्वीतीय प्रकरण श्लोक

वदंति संतः प्रतिपद्य ो च दावाग्निकल्पो भव एष भीमः ।
विचित्ररूपास्ति च कर्मसृष्टिस्तद् भोगकीटीभवितुं न युक्तम्
नानाविधस्वादुरसप्रपूर्णभोज्योपभोगे प्रविधीयमाने ।
प्रपद्यते यद्यपवर्गलक्ष्मीर्भवेतदाको बत पर्यटन्स्यात् ॥

(अर्थ)—महात्मा लोगोंका कथन है और अपनेको भी भान होता है कि यह संसार दावानल जैसा भयंकर है और कर्मको सृष्टि भी विचित्र प्रकारकी है। तब विषयभोगोंमें कीटकी भाँति क्यों रमण किया जाय ?।

नाना प्रकारके स्वादिष्ठ रसवाले भोजनोंके आस्वादन करते करते यदि मोक्षरूपी लक्ष्मी प्राप्त होसके तो संसारमें भ्रमण करता हुआ कौन रह सकता है।

सम्पादितं चेत् तप आदरेण कष्टस्य सम्यक् सहनस्वभावः ।
बहुप्रसंगे फलवान् तदास्याद् रौद्रो नच स्याद् मरणक्षणोऽपि ॥

अध्यात्म २।३५

(अर्थ)—बड़े कष्टसे यदि भली प्रकार पहिलेसे ही इन्द्रियदमन रूपी तपका स्वभाव डाल लिया जाय तो यह तप बड़ा उपयोगी होता है, मनुष्यको यह तप सब प्रकारके कष्टोंको सहर्ष सहन करना सिखाता है। इसके अतिरिक्त मरणका समय अति कष्टकारी न होकर समाधिपूर्वक सुखसे बीतता है।

ग ह्यर्थस्य मन्दीकरणं तपोऽस्ति प्राप्तं रहस्यं तपसोऽत्र सर्वम्॥
धन्या रमन्तेऽत्र विवेकदीपप्रोद्भासितात्मोन्नतिहेतुमार्गाः ॥

अध्या० २।३६

(अर्थ)—शारीरिक आवश्यकताओंका घटाना ही तप है इसीमें तपका सम्पूर्ण रहस्य आ गया है। जिनके हृदयभवनमें विवेकरूपी प्रदीपने आत्मोन्नतिसाधक मार्गको प्रकाशित कर दिया है वही धन्य हैं। ऐसे महात्मा लोग ही इस तपमें रमण किया करते हैं।

सिक्खोंके आदि गुरु महात्मा नानकजीके उपदेश

कीता लोडीय कम्म सो हर पह आखीय।
कारज दे संवार सत्गुरु सच साखीय॥

(अर्थ) सब किये हुए कर्मका फल ईश्वराधीन छोड़ देना चाहिये। इसमें सत्गुरु साक्षी हैं कि भक्तोंके कार्य ईश्वर सिद्ध कर देते हैं।

संतां संग नधान अमृत चाखीय।
भय भंजन महरबान दासकी राखीय॥

(अर्थ) संतोंके संगमें अमृत प्राप्त होता है उसको पीना चाहिये। हे परमात्मन्! आप भयका नाश करनेवाले कृपा निधान हो। मुझ दासकी बात आप रखिये ऐसी प्रार्थना सबको करनी चाहिये।

नानक हर गुण गाय। अलख प्रभ लाखीय॥

(अर्थ) नानकका यही कथन हैं कि हरिके गुण गाओ। वह हरि अलक्ष्य है और हम सबके प्रभु हैं। उन्हींको जानो।

कोट ब्रह्मंडको ठाकर स्वामी सर्वजियांका दाता रे।
प्रनपाले नित्त संभाले एक गुण नहीं मूर्ख जाता रे॥

(अर्थ) परमात्मा कोटि ब्रह्मांडके स्वामी हैं। सब जीवोंका भरण पोषण वही करने वाले हैं । सदा वही सबकी सँभाल रखते हैं। वह मनुष्य कैसे मूर्ख हैं जिन्होंने ईश्वरका एक गुण भी नहीं जाना।

हर आराध्य न जानारे हरहर गुरु गुरु करता रे।
हर जीव नाम परयो राम दासारे॥

(अर्थ) बहुतसे मनुष्य ऐसे भी हैं जो हरिके आराधनकी यथार्थ विधि न जानकर मुखसे केवल हर हर, वाह गुरु, वाह गुरु करते रहते हैं और उनका नाम भी रामदास हो जाता है, परन्तु यह सच्ची भक्तिका मार्ग नहीं है ऐसा गुरु नानकका मत है।

दीन दयाल कृपाल सुखसागर सर्व घटां भरपूरी रे।
देखत सुनत सदा है संगे मैं मूर्ख जाना दूरी रे॥

(अर्थ) वह ईश्वर तो सचाईके प्रेमी है सच्चा व्यक्ति चाहे कैसा ही दीन हीन क्यों न हो ईश्वरकी उसपर कृपा रहती हैं। उसको वे मानसिक सुख दे देते हैं जो बड़े बड़े राजाओंको भी मिलना बहुत कठिन है। क्योंकि ईश्वर सुखके सागर हैं और सबके हृदयोंमें रहनेसे अंतर्यामी हैं इसी लिये वह ती भीतरकी

सचाईको देखनेवाले है। गुरुनानक कहते हैं कि मैं इतने दिन तक बड़ा मूर्ख रहा जो हर समय संग रहनेवाले ईश्वरको दूर समझता रहा।

हर बेअंत हो मितकर बरणों क्या आना होय केसारे।
क्यों बेनती सत् गुरु अपने मैं मूर्ख दे हो उपदेशारे॥

(अर्थ) ईश्वरकी महिमा तो अपरिमित है, मनुष्य अपनी बुद्धिके अनुसार ही उनका कैसा ही उच्च वर्णन करे तथापि वह वर्णन अधूरा ही है। ईश्वरके स्वरूपका यथार्थ वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह पता ही नहीं लग सकता कि वह कैसा है।

मैं मूर्खकी केतक बात है कोट पराधी तरयारे।
गुरु नानक जिन सुणया पेख्यासे गर्भासै न पडयारे॥

(अर्थ) गुरु नानक कहते हैं कि इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि जिन मनुष्योंने हरिके गुणोंका श्रवण करके उसकी सत्ताका साक्षात्कार किया वह व्यक्ति फिर माताके गर्भमें नहीं गया। हरिकी शरणमें आनेपर मुझे कुछ भी चिन्ता नहीं है क्योंकि मुझ जैसे एक तुच्छ व्यक्तिका उनको क्या भार है जब कि उन्होंने कोटि अपराधियोंको जो प्रभुकी शरणमें आये पार लंघा दिया।

महाशय आर० डबल्यू० फ्रेजरने अपनी पुस्तक "भूत और वर्तमान भारतीय विचार"में लिखा है कबीरके दो सिद्धान्त प्रधान थे :—

(१) ईश्वर एक है (२) सब मनुष्यमात्रका परस्पर भाई भाईका सम्बन्ध है।

पन्द्रहवीं शताब्दीमें यह सिद्धान्त अंकुरित हुए और सोलहवीं शताब्दीमें गुरु नानकद्वारा यही दोनों सिद्धान्त पल्लवित हुए और सत्रहवीं शताब्दीमें गुरु गोविन्दसिंहद्वारा प्रफुल्लित होकर एक स्वतन्त्र सिक्ख अर्थात् शिष्य सम्प्रदाय इन्हीं दोनों सिद्धान्तोंके प्रचारार्थ बन गया।

यह सिक्ख सम्प्रदाय एक वीर, योद्धा सम्प्रदाय होगया। इसको अन्य भारतीय सम्प्रदायोंसे विलक्षण रखनेके लिये इनका बाहरी दृश्य पांच ककारादि वस्तुओंके द्वारा सुशोभित किया गया।

इन पांच ककारादि वस्तुओंके नाम यह हैं। (क) केश (ख) कच्छ (ग) कड़ा (घ) करद अर्थात् छुरी (ङ) कंघा।

गुरु नानक साहबकी वाणी ग्रन्थसाहबमेंसे इनके लिये कुछ वाक्य प्रातःकालकी सन्ध्याकी जगह स्वाध्यायमें रखे गये। इन वाक्योंका नाम "जपजी रखा गया।"

इनमेंसे तीन वाक्य नीचे दिये जाते हैं जिनका इङ्गलिश

नोट—देखो " Indian Thought Past & Present," page 244, by R. W. Frazer

अनुवाद महाशय मकोलिफ (Mr. Macauliffe) ने प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वान् सिक्खोंकी सम्मति मिलाकर किया था और यह अनुवाद एकबार रोयल एशियाटिक सोसायटीके जरनलमें भी निकला था।

वह वाक्य इस प्रकार हैं। इनको पञ्जाबी भाषामें पौड़ी अर्थात् पद कहते हैं। जपजीकी अनेक पौड़ी हैं।

(१) चौथी पौड़ी :—

फेरि कि अगै रखीए जितु दिसै दरबार ?
मुहौ कि बोलणु बोलीए जितु सुणि धरे पियार ?
अमृत बेला सचनाउ वडीआई वीचार।
करमी आवै कपड़ा नदरी मोख दुआर।
नानक एवै जाणीए सभ आये सचिआर ॥

(इङ्गलिश अनुवाद)

Then what can we offer Him whereby His court may be seen ?

What words shall we utter with our lips, on hearing which He may love us ?

At the ambrosial hour of morning meditate on the true name and God's greatness.

The Kind one will give us a robe of honour, and by

नोट—देखो "Journal of the Royal Asiatic Society." January 1900.

His favour we shall reach the gate of salvation, Nanak, we shall thus Know that God is altogether true.

(हिन्दी अनुवाद)

(प्रश्न)—हम उस सच्चे स्वामीकी क्या भेंट करें जिससे उसका दरबार देखा जा सके ?

हम अपनी जिह्वासे कौन शब्द उच्चारण करें जिनको सुनकर वह परमात्मा हमसे प्यार करे ?

(उत्तर)—प्रातःकालकी अमृत वेलामें सत्यनाम तथा उसकी महिमापर ध्यान लगाओ।

वह दयालु परमात्मा हमको अपनी कृपाका प्रतिष्ठापात्र बनाएगा और हम उसकी कृपासे मुक्तिके द्वारपर पहुँच जायेंगे।

नानक, इस प्रकार (प्रातःकाल नित्य ध्यान लगानेसे) हमको यह ज्ञान प्राप्त होगा कि ईश्वर सर्वथा सत्य स्वरूप है।

(२) पौड़ी पांचवीं :—

थापिआ न जाइ कीता नहोइ आपे आपि निरञ्जन सोइ।
जिन सेविआ तिनि पाइआ मानु। नानक गावीए गुण निधान।
गावीए सुणीए मनि रखीए भाओ। दुख पर हरि सुख घरि ले जाइ।
गुरमुखि नाद गुरमुखि वेद गुरमुखि रहिआ समाई।
गुरु ईश्वर गुरु गोरख ब्रह्मा गुरु पारबती माई।

(इङ्गलिश अनुवाद)

He is not established, nor is He created. The pure one existeth by Himself. They who worshipped Him have obtained honour.

Nanak, sing (The praises of Him), who is the Treasury of excellencies.

Sing & hear & put His love in your hearts. Thus shall your sorrows be removed and you shall be absorbed in Him who is the abode of happiness.

Under The Guru's instruction God's word (is heard), under the Guru's instruction (its) Knowledge (is acquired) Under the Guru's instruction man learns that God is everywhere contained.

The Guru is Shiva: the Guru is Vishnu & Barhma the Guru is Parbti (Lakshmi & Saraswati).

(हिन्दी अनुवाद)

परमात्मा किसी अन्य शक्तिद्वारा स्थापित नहीं किया जाता है न किसीके द्वारा उत्पन्न ही किया जाता है। वह निरञ्जन देव अपनी ही महिमामें ठहरा हुआ है।

जिन्होंने भगवत् भजन किया उन्होंने सर्वत्र मान पाया। नानक ऐसे प्रभुके गुणानुवाद गाइये वह सब गुणोंके निधि हैं।

ईश्वरकी स्तुति गाओ तथा सुनो और ईश्वरके प्रेमको अपने हृदयोंमें स्थान दो।

ऐसा करनेसे तुम्हारे तीनों प्रकारके ताप दूर होंगे और तुम सुखके धाम परमात्मामें रमण करने लगोगे।

परमात्माकी वाणी जिसको नाद कहते हैं हमको गुरुकी शिक्षासे सुननेमें आती है।

परमात्माकी वाणी जिसको नाद कहते हैं हमको गुरुकी शिक्षासे सुननेमें आती है।

परमात्माका ज्ञान जो वेद है वह भी हमको गुरुशिक्षासे ही आता है।

गुरु शिक्षासे ही परमात्माके सर्वव्यापी होनेका ज्ञान हमको प्राप्त होता है।

गुरु ही शिव हैं, गुरु ही विष्णु और ब्रह्मा हैं, गुरु ही पार्वती माता हैं (वही लक्ष्मी और सरस्वती हैं)।

(३) पौड़ी ३७ वीं

जत पहारा धीरज सुनिआर। अहरण मति वेद हथिआर। भउ खला अगनि तप ताओ। भांडा भाओ अमृत तितु ढालि। घड़ीए शबद सची टकसाल। जिन कओ नदरि करम तिनकार। नानक नदरी नदरि निहाल।

(हिन्दी अनुवाद)

जितेन्द्रियता रूपी भट्टी बनाओ, धैर्यरूपी सुनार बनाओ, सदसद्विवेकरूपी अहरन बनाओ, वेदशास्त्ररूपी सुनारके औजार बनाओ, बुरेकामोंके करनेमें ईश्वरका जो भय है उसको धौंकनी बनाओ, शम दम रूपी मनोनिग्रह तथा काया वचन निग्रहरूपी तपस्याको अग्नि बनाओ, ईश्वरकी भक्तिरूपी कुठालीमें ईश्वरके प्रेमरूपी अमृतको डालो और भजनरूपी इस सच्ची टकसालमें ओम् रूपी शब्द ब्रह्मको ढालो। यह ढलाई उन व्यक्तियोंको प्राप्त हो सकती है जिनपर भगवानने अपनी कृपा दृष्टि डाली हो। नानक, वह कृपानिधान परमात्मा अपने भक्तोंको एक दृष्टिसे ही भवसागर पार लंघा देते हैं।

यह सिद्धान्त उस उपनिषद् वाक्यसे मिलता है जिसमें लिखा है कि "यमेवैष विवृणुते तस्यैष आत्मा विवृणोति तनूंस्वाम्" जिसपर वह आत्मशक्ति प्रसन्न होती है उसीको अपना दर्शन देती है। साथ ही देखिये गुरु नानक वेद शास्त्रोंके तथा ओंकारके कितने भक्त थे। जब यह बात है तो हम सिक्खोंको हिन्दू धर्मसे कैसे पृथक् मान सकते हैं।

विशेष वक्तव्य ।

इन भिन्न २ धर्मग्रंथोंके कुछ वाक्योंको संग्रह करनेका हमारा यही अभिप्राय है कि हिन्दू जनता अपना एक बृहत् संगठन करे।

भारतवर्षमें रहनेवाले सनातन, आर्य, बौद्ध, जैन और सिक्ख परस्परमें एक घनिष्ठ सम्बन्ध रखें इसमें तो बात ही कौनसी है, हमको चाहिये कि ब्रह्मा, तिब्बत, चीन, जापान स्याम आदि देशोंमे रहनेवाले जो हमारे बौद्ध भाई हैं उनको भी अपने साथ करें। उन देशोंमें भारतसे मिशन भेजे जायें और उन लोगोंमें जो बुद्धदेवकी शिक्षाके विरुद्ध आचार विचार हो गये हैं उनको ठीक करके भारतीय हिन्दू समाजके साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध उत्पन्न कर लें।

रीजडेविड्स् महाशयने लिखा है।*

"हमें यह याद रखना चाहिये कि गौतमका जन्म हिन्दूघरानेमें

नोट—महाशय रीजडेविड्सका पूरा नाम Thomas William Rhys Davids है।

यह लण्डनके यूनिवर्सिटी कालेजमें पालीभाषा तथा बौद्ध साहित्यके अध्यापक थे। बौद्धसिद्धान्तोंके सम्बन्धमें यूरोपके विद्वान् इनकी सम्मतिको बड़े मानकी दृष्टिसे देखते हैं। इन्होंने बौद्धधर्मके सम्बन्धमें कई प्रामाणिक ग्रंथ लिखे हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं:—

(1) Budhism (2) Budhist Birth stories (3) Buddhist Suttas (4) Vinaya Texts (5) Dialogues of Buddha (6) Sacred Books of the Budhists.

हुआ। वह सारी जिन्दगी—मरते दमतक—हिन्दूही रहे। उनका उपदेश अपूर्व अवश्य है, पर उसमें भारतीयता भरी हुई है। गौतमके पूर्वजोंके मानसिक परिश्रम और विचारोंके बिना गौतमके विचारोंमें और सिद्धान्तोंका होना असम्भव था। निस्सन्देह गौतम अपने समयके सब महापुरुषोंसे बड़े थे और शायद संसार उन्हें जन समाजके धर्मोपदेशकोंमें, सबसे बढ़कर बुद्धिमान मानेगा। परन्तु बौद्धधर्म वस्तुतः भारतीय धर्म्महीकी एक शाखा है। बुद्धकी सारी जिन्दगीमें भारतीयता भरी रही। इतना तो हम अवश्य ही दावेके साथ कह सकते हैं कि बुद्ध हिन्दू जातिमें सबसे महान सबसे अधिक बुद्धिमान् और सबसे उत्तम पुरुष थे।"

दश पुण्यक्रियाओंका अनुशीलन।

ईश्वरसे हमारी यही प्रार्थना है कि संसारमें लोग सर्वत्र, भगवान बुद्धदेवकी बताई हुई निम्नलिखित दश पुण्य क्रियाओंका प्रयोग करें।

(१) अधिकारी मनुष्योंको दान दो।

(२) सदाचारकी शिक्षाओंके अनुकूल अपना जीवन बनाओ।

(३) सद्विचारोंकी उत्पत्ति तथा वृद्धिमें सदा तत्पर रहो।

(४) सेवाको ही अपना उद्देश्य बनाकर दूसरोंकी सेवामें लगो।

(५) अपने माता पिता और अपनेसे बड़े मनुष्योंकी रोगादि-

कष्टोंमें सेवा शुश्रूषा और सदा उनका आदर, सत्कार किया करो।

(६) अपने गुणोंका लाभ दूसरोंको भी दो।

(७) दूसरोंसे दिये हुए गुणोंको ग्रहण करो।

(८) न्याय पथपर चलानेवाले सिद्धान्तोंको सुनो।

(९) न्यायपथपर चलानेवाले सिद्धान्तोंका अन्य लोगोंको भी उपदेश दो।

(१०) अपने धर्मसम्बन्धी विश्वासको सदा निर्मल और शुद्ध रखो।

(इङ्गलिश अनुवाद)

(1) Give charity to the deserving.

(2) Observe the precepts of morality.

(3) Cultivate and develope good thoughts

(4) Render service and attend others

(5) Honour and nurse parents and elders

(6) Give a share of your merits to others

(7) Accept the merits that others give you

(8) Hear the doctrine of righteousness.

(9) Preach the doctrine of righteonsness.

(10) Rectify your faith

(नोट) यह "दश पुण्य क्रियाएं तथा बुद्ध और सिंहका संवाद" Gospel of Budha में से लिया है।

प्रत्येक धर्मानुयायी हिन्दू चाहे वे किसी भी मतके क्यों न हों एकही पिताके पुत्र हैं। इसी बातको निम्नलिखित श्लोक भी पुष्ट करता है :—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोयं नो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथोहरिः।

अर्थः—शैव शिव, वेदान्ती ब्रह्म, बौद्ध बुद्ध, प्रमाण चतुर नैयायिक कर्त्ता, जैन अर्हत् और मीमांसक जिसको कर्म मानकर उपासना करते हैं, वे हरि भगवान् हमारी रक्षा करें।

इत्योम्

जगदीशनारायण तिवारी द्वारा
"वणिक् प्रेस"
१०, मिर्जापुर स्ट्रीट, कलकत्तामें
मुद्रित

